Chapter-4

चतुर्थ अध्याय

जनवाद और हिन्दी काव्य

जनवाद और हिन्दी कविता

हिन्दी काव्य में उत्तर आधुनिकवादी चिंतन के प्रस्तार ने साहित्य संसार को एक नवीन संचेतना प्रदान की। अब तक के तमाम काव्य निष्कर्ष झुठला दिए गए थे और हिन्दी जो अब तक गगनचारी बनकर कल्पना क्षितिजों में उड़ान भर रही थी। वह एकदम से जमीन पर आ खड़ी हुई। आम–आदमी की दैनंदिनी और शोषित तथा दलित आदमी का दर्द कविता में उजागर होने लगा।

हिन्दी साहित्य के प्रारंभिक रचना काल में, जिसे वीरगाथाकाल या चारणभार काल या आदिकाल कहा गया, इन सभी पड़ावों पर आम आदमी की मौजूदगी दिखाई नहीं देती। वैसे भी विश्वभर के तमाम इतिहासों में अभिजात वर्ग या शासक वर्ग का ही इतिवृत्त संयोजित होता रहा है। भारतवर्ष के इतिहास में भी यही प्रवृत्ति देखी जा सकती है। जिसमें इतिहास के नाम पर राजा महाराजाओं के रोजनामचे अथवा उनके विलास कक्षों का मादक अठखेलियाँ ही रेखांकित होती रही है। शौर्य तथा वीरता के नाम पर शिकार कथाओं के दर्प अथवा सत्ता प्रसारण के प्रलोभन में अन्यान्य राजाओं तथा शासकों से युद्ध की कहानियाँ ही काव्यांकित होती रही हैं।

''हिन्दी साहित्य के मध्यकाल में कला प्रदर्शन की बौद्धिक प्रवृत्ति ने कविता को रस, अलंकार, पिंगल, काव्यांग विवेचना आदि के दुसह और प्रदर्शन वृत्ति से संलग्न एक विशिष्ट चलन को ही अग्रसर किया। इसमें नारी को वैलाश्य कक्षों से निकालकर आम सभाओं में खुले दरबारों में प्रदर्शित होने के लिए बाध्य कर दिया। सामाजिक आचार–संहिता के बहाने उन्होंने नायक नायिकाओं के मांसल श्रृंगार को राधाकृष्ण के रतिविलासों की तथा कथित उदात्त भावनात्मक भक्ति से जोड़ने का यत्न किया। सामान्य रचना की यह प्रवृत्ति आम रचनाकारों में स्वीकृत होकर निरंतर ही अग्रसरित होती रही और दो सौ वर्ष तक यही स्थूल श्रृंगार की विलास भावना आगे बढ़ती रही।

भक्तिकाल से लेकर समग्र रीतिकाल तक यही स्थूल श्रृंगार की चमत्कारपूर्ण प्रस्तुति की व्यामोह निरंतर परिवर्द्धित ही होता रहा। नायिका भेद, उहात्मक कथ्य, षट्ऋतु, नखशिख या शिखनख वर्णन, संयोग एवं वियोग के भेदानु भेद, काव्यांग विवेचन तथा लक्षण ग्रंथों के काव्यांकन की परम्परा अक्षुण्य रूप से आगे बढ़ती रही है।''[1]

आधुनिक काल में बाबू हरिश्चन्द्र ने सम्भवतः पहली बार युग सापेक्ष सोच के सत्य को स्वीकार किया तथा कविता को वाचवी कल्पना क्षितिज से उतारकर जमीन पर लाने का प्रारंभिक अभिगम भी तैयार किया।

पूर्व–आधुनिक काल में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी कविता को भाषा, कथ्य, वर्ण्य एवं प्रस्तुति के रूप में यगु सापेक्ष परिवर्तन की उद्घोषणा की। स्थानीय लोक भाषाओं के स्थान पर सुसंस्कृत अभिजातीय भाषा के रूप में हिन्दी खड़ी बोली को राष्ट्रीय मंच पर स्थापित कराने का शंखनाद किया। आचार्य महावीर

1. डॉ. श्रीराम परिहार, अक्षत, अंक–6, पृ. 19.

प्रसाद द्विवेदी के इस अभियान में 'सरस्वती' पत्रिका की अहम् भूमिका रही और इसी पत्रिका ने हिन्दी कविता की दश्य एवं दिशा के परिवर्तन की अग्र सूचना भी उद्घोषित की।

हिन्दी का जन जागरण काल इसी परिवर्तित दिशा की जमीन की ओर इंगित कर रहा था। बाद में छायावाद, रहस्यवाद, प्रगतिवाद तथा प्रयोगवाद के नाम पर कुछ अच्छे खासे परिवर्तन कविता की अस्मिता को बदलने के लिए किए गए।

उत्तर आधुनिक की पृष्ठभूमि रूस की जारशाही के विरूद् हुए जन आन्दोलन की संचेतना से जुड़ गई थी। मार्क्स और लेनिन के साम्यवादी विचारों ने विश्वभर के श्रमजीवियों एवं दलितों को एक मंच पर खड़ा कर दिया। आम आदमी अपना हक जानने भी लगा और हक पाने के लिए संघर्षरत भी दिखाई देने लगा।

बदलते मानव मूल्यों के तहत विकसित और विकासशील देशों के मध्य अन्तराल कम होने की जगह बढ़ रहा था। विकसित राष्ट्रों की अज़ीर्ण और अपच की सोच से विकासशील अथवा अविकसित राष्ट्रों की क्षुधातुर सोच में बहुत अन्तर था। यह सोच की असामानता साहित्य में स्पष्टतः परिलक्षित होती है। ऐशिया खण्ड के राष्ट्रों का संघर्ष अपनी अस्मिता को बचाए रखने के लिए है। जबकि यूरोपीय राष्ट्रों का सोच अन्य राष्ट्रों के उत्थान की अवरूद्ध करने की गलित मानसिकता से है।

भारत वर्ष में आम आदमी का जीवन संघर्ष हिन्दी कविता को जमीन पर खड़ा होने को बाध्य करता है। छायावाद, रहस्यवाद, प्रगतिवाद तथा प्रयोगवाद कर रचनाकार अन्त में हारकर जनवाद की ओर मुखाप्रेक्षी होता है। आम आदमी का दर्द, उसकी व्यथा, उसकी दैनंदिनी के अभावग्रस्त क्षण उसे सही और सच से रूबरू करते हैं।

उमाशंकर तिवारी ने बहुत पहले अपनी इस व्यथा को उजागर करते हुए कहा था कि किसी भी रचनाकार का आम आदमी की जिन्दगी से दूर रहना अब संभव नहीं है। वह कहते हैं –

''जो चेहरा छोड़कर
अपना कभी
घर से निकल जाता
तो मेरे सामने होते
हजारों आईना चेहरे,
ठिठक कर भागते चेहरे,
बागल से झाँकते चेहरे।
सफर के वक्त मेरे साथ,
मेरे घर नहीं होता,
कभी शीशा चिटखने का भी,
मुझको डर नहीं होता,
सफर में सिर्फ चलती सांस,
जिन्दा पंख होते हैं,
कोई मंजिल, कोई भी मील का
पत्थर नहीं होता, यही पैगाम लेकर मैं कभी
घर से निकल जाता, तो मेरे सामने होते हजारों आईना चेहरे।''[1]

1. नवगीत शिखर, संपा. – देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र', पृ. 21

अपनी थकान और दिनभर की उदासी को सार्थक बिम्बों के द्वारा किशन सरोज उद्घाटित करते हैं –

"दूर तक फैला नदी का पाट,
नावें थक गईं।
शाल वृक्षों से लिपट कर
शीश धुनतीं–सी हवायें,
बादलों के केश, मुख पर
डाल सोईं–सी दिशायें;
धुन्ध की जुड़ने लगी फिर हाट,
नावें थक गईं।
मोह में जिस के धरा तन
हो सका अपना न वह जल,
देह–मन गीले किये, पर
पास रुकपाया न दो पल;
घूमते इस घाट से उस घाट,
नावें थक गईं।"[1]

बहुत पहले ही शंभुनाथ सिंह ने अपने गीत अभिशप्त में इस व्यथा की ओर संकेत किया था –

"पर्वत न हुआ, निर्झर न हुआ,
सरिता न हुआ, सागर न हुआ,

1. किशन सरोज, नवगीत शिखर, संपा. – देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र', पृ. 34

किस्मत ऐसी लेकर आया
जंगल न हुआ, पांतर न हुआ।

जब-जब नीले नभ के नीचे
उजले ये सारस के जोड़े,
जल बीच खड़े खुजलाते हैं
पांखें अपनी गर्दन मोड़े,

तब-तब आकुल हो उठता मन,
कितना अभिशप्त मिला जीवन !
जलचर न हुआ, जलखर न हुआ,
पुरइन न हुआ, पोखर न हुआ।

जब-जब साखू वन में उठते
करमा की धुन के हिलकोरे,
मादल की थापों के सम पर
भांवर देते आंचल कोरे,

तब-तब पागल हो उठता मन
किस अर्थ मिला ऐसा जीवन?
पायल न हुआ, झांझर न हुआ,
गुदना न हुआ, काजर न हुआ।

जब-जब झोंपड़ियों की बस्ती
बनती है सावन की रानी,

गदराये तन नर्तन करते
बादल होता पानी–पानी।[1]"

कवि नईम अपने सम्पूर्ण अभिजात वर्ग को नकारते हुए आम आदमी के निकट होकर ही कुछ कहना चाहते हैं –

"आओ हम पतवार फेंककर
कुछ दिन हो लें नदी–ताल के।
नाँव किनारे के खजूर से बाँध
बटोरें शंख–सीपियाँ,
खुली हवा, पानी से सीखें
शर्मो–हया की नई रीतियाँ;
बाँचें प्रकतिपुरुष की भाषा,
साथ–साथ पानी उछाल के।
लिख डालें फिर नए सिरे से
रँगे हुए पन्नों को धोकर
निजी दायरों से बाहर हो
रागहीन रागों में खोकर –
आमंत्रण स्वीकारें उठकर
धूप–छाँव–सी हरी डाल के।
नमस्कार पक्के घाटों को
नमस्कार तट के वृक्षों को,

1. शंभुनाथ सिंह, नवगीत शिखर, संपा. – देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र', पृ.3

पोंछ–पाँछ डालें जिस्मों से

चिपक गए नागर कक्षों को,

हो न सकें यदि लगातार

तब जी लें सुख हम अंतराल के।

आओ हम पतवार फेंककर

कुछ दिन हो लें नदी–ताल के।[1]"

बहुत ऊँची कल्पनाओं के वितान से घबड़ाकर सोम ठाकुर अपने जीवन्त परिवेश में ही रहना पसंद करते हैं, वह कहते हैं –

"परियों के देश में न जाना युवराज ! तुम

जाकर फिर लौट नहीं पाओगे

पथराकर बेघर हो जाओगे।

बूँद–बूँद पानी को तरसा देगी तुम्हें

कुछ भी छूकर सोना करने की कामना,

हँसते कंकालों तक पहुँचा देगी तुम्हें

जीवन–भर अनहोनी करने की कल्पना,

चाँदी के फूल कभी भूल से न तोड़ना

तोड़ोगे स्वयं बिखर जाओगे,

रक्त–सने ख़ंजर हो जाओगे।

मस्तूलों की अपनी दिशा नहीं होती है,

वे तो आकाश–चढ़ी हवा के गुलाम हैं,

1. मईम, नवगीत शिखर, संपा. – देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र', पृ.11

सिंहासन राजदंड, चँवर–छत्र–ध्वजा–दुर्ग–
ये सब के सब जीवित विष के परिणाम हैं,
मोती की नावों पर पाँव नहीं धरना तुम,
भँवर–भँवर डूबो–उतराओगे,
बर्फ के समंदर हो जाओगे।
समय तो स्वयं में है कोलाहल की सुरंग,
जिसकी बनते–बनते मिटने की बान है,
अभिशापित तीर लिए व्यर्थ यहाँ घूमना–
घुने धनुष के ऊपर मन का संधान है,
हरे–भरे सावन का सपना मत पालना,
अलसा–अलसाकर निंदिआओगे,
देख–देख पतझर हो जाओगे।[1]"

शांति सुमन के मानस में अपने आसपास का जीवन्त परिसर उसे आन्दोलित करता रहता है। वह कहती हैं –

" बरतन मलते सुबह हुई
ओसार झाड़ते दिन
साँझ लपेटे कुहरा–
अपनी छोटी मालकिन
चिड़िया जैसी रिबन बाँधती
अपनी गुड़िया दीदी, धूप कि जैसे भैया ने

1. सोम ठाकुर, नवगीत शिखर, संपा. – देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र', पृ.18

मेले में चीज खरीदी, रात आँख में बजती जैसे

बजता खाली टिन[1]''

जीवन संघर्ष के पीड़ा ने अनतस की भावुक संवेदना को समाप्त कर दिया है। संवेदनहीन मानसिकता से व्यक्ति का चिंतन कितना नैराश्य और अंधकारमय भटकाव में भ्रमित हो जाता है, महेश अनघ इस व्यथा को व्यक्त करते हुए कहते हैं –

" कौन है? संवेदना !
कह दो अभी घर में नहीं हूँ
कारखाने में बदन है
और मन बाजार में
साथ चलती ही नहीं
अनुभूतियां व्यापार में
क्यों जगाती चेतना
मैं आज बिस्तर में नहीं हूँ
यह जिसे व्यक्तित्व कहते हो
महज सामान है
फर्म है परिवार
सारी जिन्दगी दूकान है
स्वयं को है बेचना
इस वक्त अवसर में नहीं हूँ
फिर कभी आना

1. शांति सुमन, नवगीत शिखर, संपा. – देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र', पृ.44

कि जब यह हाट उठ जाए मेरी

आदमी हो जाऊँगा

जब साख लुट जाए मेरी

प्यार से फिर देखना

मैं अस्थि पंजर में नहीं हूँ।[1]"

कवि मधुकर अष्ठाना रोजमर्रा के जीवन संघर्ष से जूझते हुए आम आदमी की व्यथा को गीतांकित करते हुए कहते हैं –

" सिर्फ अदहन खदकता रहा

और बच्चे सभी सो गये

भूख खाने लगी ज़िन्दगी

प्रश्न कितने जटिल हो गये

प्यास ही प्यास उगने लगी

तृप्तियों का कहीं घर नहीं

दृग हुए मूक गंगोत्री

कितनी गंगायें सूखीं बहीं

घोंसले दर्द में खो गये

विषबुझी यातनायें लिये

वह्नि–वाहक बनी हर प्रथा

सिन्धु में लोग जीवित जले

मोतियों ने समेटी व्यथा

1. महेश अनघ, नवगीत शिखर, संपा. – देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र', पृ.47

इस अँधेरे में जुगनू मगर

बीज विद्रोह के बो गये।[1]"

जनवाद से सीधा रूबरू होते हुए जुझारू गीतकार महेन्द्र नेह बड़े ही धारदार शब्दों में कहते हैं –

"हम करवट लेते वक्त की जिंदा गवाही हैं,

हम लाल–झंडे के सिपाही हैं !

हम झुक नहीं सकते किसी तूफ़ान के आगे

हम रुक नहीं सकते किसी चट्टान के आगे

कुर्बानियों की राह के जाँ–बाज़ राही हैं

हमको नहीं स्वीकार ये धोखे की तक़रीरें

हमको नहीं मंजूर ये पांवों की ज़ंजीरें

हम लूट के ज़ालिम ठिकानों को तबाही हैं !

हमने बहुत से जार, कर बेजार छोड़े हैं

हमने अनेकों हिटलरों के दाँत तोड़े हैं

हम शाहों को मिट्टी चटाती लोकशाही हैं

यह धार हंसिये की हमें लढ़ना सिखाती है

हमको हथौड़े की पकड़ बढ़ना सिखाती है

हम हर अंधेरे के मुकाबिल कार्यवाही हैं।[2]"

दिनेश सिंह ने अपनी बात स्पष्ट करते हुए नवगीतों में आम आदमी की उपस्थिति को रेखांकित करते हुए कहा है – ""काव्य में भाषिक अभिजात्य के मोहभंग

1. मधुकर अष्ठाना, नवगीत शिखर, संपा. – देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र', पृ.53

2. महेन्द्र नेह, नवगीत शिखर, संपा. – देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र', पृ.63

के बाद समाज से जुड़ने की जो ललक पैदा हुई उसमें दो बातें रोड़ा बनीं, एक तो अपने से परे समाज की कल्पना करके सृजन की परंपरा, दूसरे इस काल्पनिक समाज के लिए साहित्य के हाथ में तलवार सौंपना। इससे कविता में हर ओर युद्ध का समां बंध गया। सारा साहित्य नक्कारखाना हो गया। काव्य की स्वाभाविक और सहज लय इस तेवरबाजी की तलवार–भंजाई में विलुप्त हो गयी। चूंकि इस जुझारू भाषा के शब्द अनुभूति की अंतरंगता से न आकर सीधे शब्द कोश से आये, इसलिए शिल्प की जटिलता का अनचाहे ही पोषण हुआ, आत्मपक्ष की अस्वीकृति को मर्यादा मिली। काव्य की तरलता खोयी तो वह आम आदमी के दुःख–दर्द की कथित भाषा होकर भी उसकी सहानुभूति नहीं बटोर सका।''[1]

इसे और अधिक स्पष्ट करते हुए वह लिखते हैं – नवगीत का संसार पूर्ण संवेदना का संसार है। "भावना में रसे–पके गीतों का रिश्ता अधिक अर्थों में आदमी के दुःख–दर्द, उसकी निराशा–हताश से होता है। इसीलिए नवगीत बाहर से सौंदर्य–प्रेमी नहीं लगते; पर उनमें जो सौंदर्य है वह रूपवाद के दुराग्रह से प्रेरित न होकर स्थितियों का सूक्ष्म अभिनव सौंदर्य है। स्थूल का प्रेरक भाव ओर उसमें छिपी ऊर्जा का, सूक्ष्म की प्रतिष्ठा के लिए सार्थक उपयोग अवश्य दिखेगा। नयी कविता का कैनवास या काव्यात्मक आधार इतना फैला हुआ है कि उसमें किसी एक अकेले निस्संग क्षण को पकड़ लेना उतना आसान नहीं है। नवगीत इतना संवेदनशील है कि वह मौसम के किसी तात्कालिक परिवर्तन के प्रभावी क्षण को अपनी लय में तुरंत ग्रहण कर लेता है।"[2]

लोकमानस की सहज प्रकृति के अनुरुप ही हिन्दी की वर्तमान काव्य धाराएँ अग्रसर हुई हैं। नवगीत आज की हिन्दी कविता की सर्वाधिक सक्षम छान्दस काव्य

1. नये पुराने, संपा. दिनेश सिंह, अंक–5, पृ.54

2. वही, पृ.114

धारा है। नवगीत की सबसे बड़ी उपलब्धि यह है कि वह छन्दाश्रित और लयात्मक है, जिसमें वह लोक–मानस में सहज ही स्थान प्राप्त कर लेता है। उसमें न तो शास्त्रीय संगीत वाली शब्दातीत नाद–योजना है, न सुगम संगीत जैसी शब्दाश्रित रागबद्धता और फिल्मी गीतों जैसी काव्यहीन गायकी। नवगीत ऐसा काव्य है, जो अपनी नाद–योजना के कारण सस्वर पठनीय है, जाने–पहचाने बिम्बों की भाषा में अभिव्यक्त होने के कारण पाठकों–श्रोताओं के सहज बोधगम्य और स्मृति–ग्राह्य है; सामान्य जनता के दुःख–दर्द की आवाज होने के कारण लोकप्रिय है और अपने काव्यत्व के कारण विद्वानों द्वारा समादरणीय है। यही भारतीय काव्य की परम्परागत नींव है, जिस पर नवगीत की दीवार चुनी गयी है। अतः स्पष्ट है कि यह दीवार कभी ढहने वाली नहीं है। इस मजबूत दीवार पर ही हिन्दी के नवागत काव्य की इमारत खड़ी की जा रही है। इस इमारत का नाम नवकाव्य है। इस तरह नवगीत ही काय की भूमिका है। आगामी कल का हिन्दी काव्य विदेशों से आयातित सोच और शिल्प का काव्य नहीं होगा, बल्कि नवगीत द्वारा प्रारम्भ किया गया, भारतीय ढंग की आधुनिकता और भारतीय काव्य–परम्परा की संजीवनी से समन्वित काव्य होगा। यह काव्य पारम्परिक काव्य से बहुत कुछ भिन्न होगा।

कहा जाता रहा है कि साहित्य समाज का दर्पण है, किन्तु यह दर्पण समग्र समाज के परिदृश्य को सामने रखता है। साहित्य मूल्य निरपेक्ष एवं अनुत्तरदायी कभी नहीं हो सकता। नवगीतकार अपने उत्तरदायित्व के प्रति सचेत है। नवगीत में ग्राम, नगर, महानगरादि के स्तर पर चेतना का विभाजन नहीं है। उसने जीवन को उसकी समग्रता में ग्रहण कर वाणी दी है। मानवानुभवों की कोई सीमा नहीं है। स्थिति और परिवेश इस वैविध्य के लिए उत्तरदायी हैं। अपने युग और परिवेश के अनुरूप ही नवगीत ने मनुष्य के हर्ष–विषाद का चित्रण किया है। यदि विरूप, विसंगत, त्रासद

स्थितियों का, पीड़क व्यवस्था के लौह चक्रों के नीचे पीसे जाते हुए मनुष्य की दारुण व्यथा का चित्रण नवगीत में उपलब्ध है तो साथ ही इसमें इन समस्त विभीषिकाओं के बीच संघर्षरत आस्थावान् सर्जक का स्वर भी मुखरित हुआ है। आर्थिक, सामाजिक एवं राजनैतिक शोषण की मुखौटाधारी विसंगतियों पर यदि इसमें तीखी चोट है, तो प्रकृति का सहज सौंदर्य और पारिवारिक स्नेह की उत्फुल्लता भी इसके प्रतिपाद्य के अंग हैं।

डॉ. शंभुनाथ सिंह ने नवगीत अर्द्धशती की भूमिका में स्पष्ट किया है कि "जब काव्य शिष्ट समाज की अभिरुचियों, परम्पराओं एवं शास्त्रीय नियमों में बंधकर घिसा-पिटा और बासी हो जाता है, तो प्रतिभ कवि लोक-काव्यों के अनेक तत्वों को अपनाकर कविता को लोकजीवन से जोड़ते हैं। गीतकाव्य में यह बात सबसे अधिक दिखायी पड़ती है। इस प्रक्रिया में गीत-विधा का एक सीमा तक कायाकल्प हो जाता है। इस प्रकार के गीत पुराने पारम्परिक गीतों की तुलना में नवगीत होते हैं।"[1]

हिन्दी में आधुनिक युग का प्रारम्भ होने के साथ ही पारम्परिक गीत-काव्य का नवीनीकरण प्रारम्भ हो गया था। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा उनके मंडल के अन्य कवियों – बद्रीनारायण चौधरी प्रेमधन, प्रतापनारायण मिश्र आदि ने मध्यकालीन पद गीतों की शैली एवं विषय वस्तु का परित्याग करके लोकगीतों के ढंग पर होली, कजली, विरहा आदि की रचना की। आगे चलकर श्रीधर पाठक ने लोक-प्रचलित गीतों, जैसे खयाल, लावनी आदि की शैली में देश-प्रेम और प्रकृति-चित्रण से सम्बन्धित गीत लिखे। आधुनिक हिन्दी नवगीत का प्रारम्भ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, प्रेमधन और श्रीधर पाठक के ऐसे गीतों से ही माना जा सकता है। गीत-विधा का स्वरूप प्रत्येक युग में बदलता रहा है। यह बदलाव हमेशा नये ढंग के गीतों से ही प्रारम्भ होता है। वैदिक गीतकाव्य

1. नवगीत अर्धशती, संपा. शंभुनाथ सिंह, पृ.42

की पद्धति को छोड़कर थेर–थेरी गाथाओं में तथा प्राकृत के काव्यों में जो गीत–पद्धति प्रचलित हुई वह उस युग की नवगीत–विधा थी। अतः नवगीत की परम्परा भारत में प्राचीन काल से ही वर्तमान रही है, भले ही उसे नवगीत संज्ञा न प्राप्त हुई हो।

''कुछ लोग यह समझते हैं कि नवगीत नयी कविता के वजन पर गढ़ा हुआ शब्द है। 'नयी कविता' शब्द स्पष्ट ही अंग्रेजी के 'न्यू पोयट्री' शब्द का अनुवाद है। 'तार सप्तक' के प्रकाशन के साथ जो नयी काव्य–विधा प्रचलन में आयी, उसे प्रयोगवाद कहा गया। यह प्रयोगवाद शब्द भी अंग्रेजी के 'एक्सपेरिमेंटलिज्म' शब्द का अनुवाद था। यूरोप में बिम्बवादी (इमेजिस्ट) कवियों जैसे कमिंग्ज, एजरा पाउन्ड आदि ने कविता के 'फॉर्म' में परिवर्तन करके उससे नये–नये प्रयोग किये जैसे लयों और तुकों का परित्याग, छन्द का त्याग करके गद्य की पंक्तियों को तोड़कर लिखना जिसे 'फ्री वर्स' कहा जाता था। इन्हीं प्रयोगों की प्रवृत्ति का सामान्य नाम प्रयोगवाद पड़ा था। सन् '30 के दशक में अंग्रेजी में इस प्रवृत्ति का प्रचलन अधिक था। टी.एस. इलियट ने जो काव्य लिखे उनमें केवल प्रयोग का ही नहीं, कथ्य का भी चमत्कार था। इलियट के बाद ही आडेन, स्पेन्डर ईशरवुड आदि नये कवियों ने प्रगतिवाद का आन्दोलन प्रारम्भ किया। उन्होंने अपनी कविता को 'न्यू पोयट्री' नाम दिया और इसी नाम से एक पत्रिका का प्रकाशन भी प्रारम्भ किया। हिन्दी में नयी कविता इसी अंग्रेजी शब्द का अनुवाद है। अंग्रेजी में यह नाम चालीस के दशक में आया था। हिन्दी में यह नाम (नयी कविता) दस–पन्द्रह वर्षों बाद प्रचलित हुआ। जिस तरह अंग्रेजी में 'एक्सपेरिमेंटलिज्म' के बाद न्यू पोयट्री का आन्दोलन आया, ठीक उसी तरह या उसी के अनुकरण के रूप में हिन्दी में भी प्रयोगवाद के बाद नयी कविता का आन्दोलन प्रारम्भ हुआ। किसी 'वाद' के इंग्लैन्ड से चलकर भारत तक पहुँचने में दस–पन्द्रह वर्षों का समय लग जाना स्वाभाविक ही था।''[1]

1. नवगीत अर्धशती, संपा. शंभुनाथ सिंह, पृ.57

किन्तु इंग्लैण्ड में न्यू लिरिक या न्यू सांग का कोई बाद नहीं चला। अतः नवगीत को पश्चिम से आयातित वाद तो माना ही नहीं जा सकता। यह दूसरी बात है कि अंग्रेजी में टी. एस. इलियट का समकालीन एक और भी महाकवि डब्ल्यू. बी. एट्स था जो केवल गीतिकाव्य ही लिखता था और उसके प्रगीत रोमांटिक और नवरोमांटिक कवियों के प्रगीतों से नितान्त भिन्न थे। किन्तु उन प्रगीतों को नव प्रगीत (न्यू लिरिक) ही कहा जा सकता है, नवगीत नहीं। पाश्चात्य देशों में गीत काव्य नहीं, संगीत के क्षेत्र की वस्तु है जिसे सांग कहा जाता है। अतः नवगीत किसी अंग्रेजी शब्द का अनुवाद है या कि अंग्रेजी के किसी काव्यान्दोलन या काव्य प्रवृत्ति का अनुकरण है, ऐसा नही माना जा सकता। निष्कर्ष यह है कि नवगीत नयी कविता की तरह पश्चिम से आयातित काव्य प्रवृत्ति नहीं है, न तो वह हिन्दी की नयी कविता के वजन पर गढ़ा हुआ शब्द है। नयी कविता के प्रारम्भ से बहुत पहले ही नये ढंग के गीतों की रचना प्रारम्भ हो गयी थी, उसका नामकरण 'नवगीत' भले ही बाद में हुआ।

नवगीत भारतेन्दु युग से चली आती उस गीत–परम्परा की संज्ञा है जो प्रारम्भ से ही लोग–जीवन से सम्पृक्त थी और युगीन बोध से उत्तरोत्तर परिपुष्ट होती रही। छायावाद–युग में भक्तिकालीन पद–गीत का स्थान स्वच्छन्दतावादी गीत शैली ने ले लिया जो अंग्रेजी के रोमांटिक कवियों – वड्‌ सवर्थ, सेली, कीट्स, बायरन आदि के गीतों से अनुप्रेरित थी। इस शैली के गीतों का लोक–जीवन की यथार्थ स्थितियों से कोई सरोकार नहीं था। "छायावादी गीत बहुपठित समाज की मानसिकता वाले तथा भारतीय पुनर्जागरण की प्रवृत्तियों से प्रभावित शिष्ट वर्गीय कवियों की देन थे। अतः नवीनता से युक्त होते हुए भी उन्हें नवगीत नहीं कहा जा सकता क्योंकि वे सामान्य जनता के दुःख–दर्द और हर्षोल्लास से असम्पृक्त तथा लोक–जीवन एवं समाज की युगीन समस्याओं से अप्रभावित थे। किसी भी युग में उसी गीतधारा को नवगीत कहा

जा सकता है, जिसकी जड़ें शास्त्रों और शिष्ट वर्ग में न हों बल्कि आम जनता के जीवन की ठोस धरती में हों।"[1]

द्विवेदीयुगीन काव्य रीतिकालीन काव्य की तुलना में अपने सामाजिक बोध और लोक में व्यवहृत भाषा (खड़ी बोली) के कारण नवीनता और ताजगी से युक्त था, पर वह निबन्धात्मक और इतिवृत्तात्मक था। उसमें गीत विधा बाली भावात्मकता और आत्माभिव्यंजकता नहीं थी। इस कारण उस काल में नवगीत के विकास के लिए अवकाश नहीं था। "छायावाद के प्रारम्भ के साथ गीत काव्य का नया उन्मेष अवश्य हुआ पर छायावादी काव्य में आध्यात्मिकता, आदर्शवाद और कल्पना की अतिशयता का इतना आधिक्य था कि वह सामान्य जन के मानस को आकृष्ट नहीं कर सका। वस्तुतः छायावाद का कथ्य और शिल्प दोनों ही विशिष्ट वर्ग (एलीट) की जीवनानुभूति और चिन्ता–धारा से सम्बद्ध थे। इस कारण छायावादी गीतों में नवगीत की एक भी विशेषता वर्तमान नहीं थी। निम्न मध्यमवर्गीय एवं निम्नवर्गीय शिक्षित समाज के लिए छायावादी काव्य प्रलाप एवं अबूझ पहेली जैसा था। द्विवेदी युग में हिन्दी कविता रीतिकालीन रूढ़ियों को तोड़कर सामान्य जनजीवन की जिन समस्याओं की ओर मुड़ी थी, उन्हें छायावादी कवियों ने सर्वथा त्याग दिया। छायावादी आलोचकों ने इसी को स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह कहा। फिर भी छायावादी काव्य में रीतिकालीन ब्रजभाषा–काव्य एवं द्विवेदीयुगीन इतिवृत्तात्मक काव्य की तुलना में जो नवीनता एवं ताजगी थी उसके कारण छायावादी गीतों की एक प्रबल धारा उमड़ पड़ी। यह धारा सन् 1920 से लेकर 1940 तक हिन्दी काव्य की मुख्य धारा थी।"[2]

किन्तु इन दो दशकों के भीतर ही छायावादी गीत का कथ्य एवं शिल्प घिस–पिटकर इतना उबाऊ और बासी हो गया कि उसकी प्रारम्भिक नवीनता और ताजगी

1. नवगीत अर्धशती, संपा. शंभुनाथ सिंह, पृ.81

2. वही, पृ.87

एकदम लुप्त हो गयी। छायावादी काव्य के शिखर चतुष्टय–प्रसाद, निराला, पन्त और महादेवी ने हिन्दी काव्य को भक्तिकालीन कवियों के महान काव्यों के स्तर तक पहुँचा दिया। अन्तर इतना ही था कि भक्तिकालीन काव्य काव्यों के जनमानस से सीधे जुड़ा हुआ था, जबकि छायावादी काव्य संस्कृत के अलंकृत काव्यों की तरह केवल विशिष्ट वर्ग तक ही सीमित रह गया। फलतः छायावाद के द्वितीय चरण में नये और युवा कवियों के सामने छायावाद के कथ्य और शिल्प से विद्रोह करने के अतिरिक्त और कोई विकल्प ही नहीं था। बच्चन, नरेन्द्र शर्मा, भगवतीचरण वर्मा, अंचल, नेपाली आदि युवा कवियों ने ऐसे गीतों की रचना की जिनकी भाषा आम बोल–चाल की भाषा के निकट थी। उन्होंने अतिशय कल्पनाशीलता और आदर्शवाद के स्थान पर व्यक्तिगत जीवन की यथार्थ स्थितियों, वैयक्तिक आशा–निराशा और वेदना तथा स्थूल सौन्दर्यानुभूति एवं प्रेम–भावना को गीतों के माध्यम से व्यक्त करना प्रारम्भ किया। इस तरह यह उत्तर–छायावादी गीत छायावादी गीतों की तुलना में नवीनता और ताजगी से युक्त था। इस कारण यह मध्यवर्गीय पठित समाज में युवा वर्ग के बीच अधिक लोकप्रिय हुआ। इस व्यक्तिवादी–स्वच्छन्दतावादी काव्य धारा के समानान्तर पाश्चात्य साहित्य में प्रादुर्भूत प्रगतिवाद एवं प्रयोगवाद की प्रवृत्तियों से प्रभावित होकर हिन्दी काव्य में भी प्रगतिवाद और प्रयोगवाद की नयी काव्य–धाराएँ प्रारम्भ हो गयीं। इनके साथ ही भारतीय राष्ट्रीय चेतना एवं स्वातंत्र्य–संग्राम की प्रेरणा से राष्ट्रीय काव्य की एक वेगवती धारा फूट पड़ी जिसे माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', सोहनलाल द्विवेदी, रामधारी सिंह 'दिनकर' आदि कवियों ने तीव्र गति से आगे बढ़ाया। इस तरह व्यक्तिवादी स्वच्छन्दतावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद और राष्ट्रीयतावाद की नवीन प्रवृत्तियों के विकास और प्रसार के कारण छायावादी काव्यधारा क्षीण होती गयी और सन् 1940 के बाद उसका वेग अत्यन्त शिथिल हो गया।

"स्वतन्त्रता-प्राप्ति के ठीक पूर्व वाले दशक में जिस छायावादोत्तर गीतकाव्य का विकास हुआ वह मुख्यतः व्यक्तिवादी-स्वच्छन्दतावादी एवं प्रगतिवादी गीतकाव्य था। राष्ट्रीयतावादी गीत-काव्य स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद समाप्तप्राय हो गया। प्रगतिवादी गीतकाव्य की रचना भी राजनीतिक कारणों से प्रायः रुक गयी। प्रयोगवादी काव्य मुक्त छन्द में लिखे जाने के कारण गीत-विधा का विरोधी था। इस तरह छायावादोत्तर युग के पहले दशक में व्यक्तिवादी-स्वच्छन्दतावादी गीत-धारा हिन्दी कविता की मुख्य धारा बन गयी। किन्तु शीघ्र ही यह अपनी सस्ती भावुकता और रोमानी मनोवृत्तियों के कारण इतनी सतही और बाजारू हो गयी कि गम्भीर चेतना वाले पाठकों के मन में उसके प्रति अरुचि उत्पन्न होने लगी। वस्तुतः इस गीत-धारा में मनोरंजन और लिजलिजी भावुकता की ही प्रधानता हो गयी जिसके कारण इसमें कोई साहित्यिक गरिमा नहीं रह गयी।"[1]

वर्तमान नवगीत के सन्दर्भ में इसी व्यक्तिवादी स्वच्छनदतावादी गीत-धारा को पारम्परिक गीत-धारा कहा जाता है। स्वातंत्र्योत्तर युग में यह पारम्परिक गीत-कविता उत्तरोत्तर ह्रासशील होकर कवि-सम्मेलनों के मंचों तक सीमित रह गयी।

स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद वाले दशक में सभी छायावादोत्तर काव्य-प्रवृत्तियों का संश्लेषण हुआ और प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, व्यक्तिवादी-स्वच्छन्दतावाद आदि विभिन्न खेमों में बँटे हुए प्रबुद्ध कवि एक मंच पर एकत्र हुए। उन्होंने एक नयी काव्य-धारा के प्रादुर्भाव का उद्घोष किया जिसका नाम 'नयी कविता' रखा गया। इस नयी काव्य-धारा में मुक्त छन्द एवं छन्द-मुक्त शैली में लिखी गयी रचनाएँ और छन्दोबद्ध गीत, प्रगीत, चतुर्दशपदी आदि सम्मिलित थे। इस तरह की कविता के नाम – नयी कविता – का उद्घोष भले ही सन् 1950 के आसपास किया गया हो किन्तु इसका प्रारम्भ

1. नवगीत दशक-2, संपा. शंभुनाथ सिंह, पृ.103

छायावाद युग में ही सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' द्वारा हो गया था। सन् 1935 में ही निराला ने 'मुक्त छन्द में 'वह तोड़ती पत्थर' शीर्षक कविता लिखी जो नयी कविता की भंगिमा से युक्त है। 'बेला' और 'नये पत्ते' शीर्षक काव्य-संकलनों में उनकी मुक्त छन्द की और छन्दोबद्ध कई रचनाएँ नयी कविता की सीमा में आने योग्य हैं। सन् 1942-43 में लिखित उनकी निम्नलिखित चतुर्दशपदी स्वातंत्र्योत्तर नयी कविता जैसी ही है :

"जलाशय के किनारे कुहरी थी,
हरे नीले पत्तों का घेरा था,
पानी पर आम की डाल आई हुई,
गहरे अंधेरे का डेरा था,
किनारे सुनसान थे, जुगनू के,
दल दमके यहाँ-वहाँ चमके,
बन का परिमल लिये मलय बहा,
नारियल के पेड़ हिले क्रम से,
ताड़ खड़े ताक रहे थे सबको,
पपीहा पुकार रहा था छिपा,
स्यार विचरते थे आराम से,
उजाला हो गया और तारा दिया।
लहरें उठती थीं सरोवर में,
तारा चमकता था अन्तर में।"[1]

1. निराला, निराला रचनावली भाग-3, पृ.47

इसी तरह 1940 में लिखित उनका निम्नलिखित गीत भी न तो छायावादी है और न पारम्परिक गीत –

"मैं अकेला,

देखता हूँ, आ रही,

मेरे दिवस की सान्ध्य बेला।

पके आधे बाल मेरे

हुए निष्प्रभ गाल मेरे

चाल मेरी मन्द होती जा रही,

हट रहा मेला।

जानता हूं, नदी–झरने

जो मुझे थे पार करने,

कर चुका हूं, हंस रहा यह देख,

कोई नहीं भेला।[1]"

यह गीत वस्तुतः नयी कविता का गीत अथवा नवगीत ही है। सच पूछा जाय तो स्वातंत्र्योत्तर कविता की दोनों काव्य–प्रवृत्तियों – नयी कविता और नवगीत – के प्रथम उन्नायक महाकवि निराला ही थे। यदि परम्परागत भाषा, घिसे–पिटे छन्दों और भावों के प्रति विद्रोह करके आम जनता की भाषा में बिम्बों और प्रतीकों के माध्यम से यथार्थ जीवन की कटु–तिक्त अनुभूतियों और मानवीय दशाओं की अभिव्यक्ति को नवगीत की मौलिक पहचान मान लिया जाये तो नवगीत का प्रारम्भ सन् 1920–21 में ही हो गया था जब निराला ने 'मातृ–वन्दना' (1920), 'शेष' (1921) आदि

1. निराला, निराला रचनावली भाग–3, पृ.78

गीत लिखे थे। प्रारम्भ में उनके ऐसे गीतों की भाषा छायावादी भाषा से अधिक भिन्न नहीं थीं, किन्तु बाद में वे बोलचाल की सहज भाषा में गीतों की रचना करने लगे। 'गीतिका' (1934) में उनके कई गीत ऐसे हैं जिनमें कवि की तटस्थ जीवन-दृष्टि और सामाजिक यथार्थ की पूर्ण अभिव्यक्ति हुई है। 'गीतिका' और 'अनामिका' में ऐसे भी कई गीत हैं, जिनमें कवि की तटस्थ जीवन-दृष्टि और आध्यात्मिक संस्पर्श का संश्लेषण हुआ है। ऐसे गीतों को पूर्ण नवगीत नहीं कहा जा सकता, किन्तु उनके बाद के संग्रहों में जो नये ढंग के गीत हैं उनमें शुद्ध लौकिक और मानवीय अनुभूतियों की अभिव्यक्ति हुई है। इस तरह के सबसे अधिक गीत 'बेला' (1943) में हैं। उन गीतों के सम्बन्ध में कवि ने स्वयं भूमिका में लिखा है – ''प्रायः सभी तरह के गेय गीत इसमें हैं। भाषा सरल तथा मुहावरेदार है। गद्य करने की आवश्यक नहीं। इसमें बहरों में अधिकांश गीत लिखे गये हैं, जिससे उनमें नयी गति और ताजगी आ गई है।'' किन्तु सरलता और सादगी के भीतर भी कवि ने जिन अनुभूतियों की अभिव्यक्ति की है, वे अछूती है। 'बेला' का एक गीत अजनबीपन की भावना की अभिव्यक्ति करने के कारण आधुनिक अस्तित्ववादी प्रवृत्ति का परिचायक है :

'' बाहर मैं कर दिया गया हूँ !
भीतर पर भर दिया गया हूँ !
ऊपर वह बर्फ गली है,
नीचे यह नदी चली है,
सख्त तने पर नर्म कली है।
इसी तरह हर दिया गया हूँ ।''[1]

---

1. निराला- 'बेला' काव्य संग्रह से

किन्तु 'बेला' के सभी गीत मायावादी–अस्तित्ववादी नहीं है। कुछ गीतों में सहज और मोहक दृश्यों का चित्रण किया गया है तो कुछ में सामाजिक अव्यवस्था और वैषम्य पर गहरा व्यंग्य है। 'अरे गंगा के किनारे' शीर्षक गीत सुन्दर 'लैण्डस्केप' चित्रण है, तो 'भीख मांगता है वह यहाँ पर' शीर्षक गीत गहरा मनोवैज्ञानिक चित्र उपस्थित करता है।

छन्दों के बन्धन खुलने की बात पर निराला ने बार–बार बल दिया है। वस्तुतः नवीनता चाहे वह काव्य की हो या जीवन की, तभी आ सकती है, जब परम्परा के रूढ़ बन्धनों से मुक्ति मिले। 'गीतिका' का प्रथम गीत इसी आन्तरिक स्वतन्त्रता का आह्वान करता है, जो काव्य और जीवन दोनों में ही स्वच्छन्दता और नवीनता ला सकती है :

"नव गति, नव लय, ताल, छन्द नव
नवल कण्ठ, नव जलद–मन्द्र रव
नव नभ के नव विहग वृन्द को
नव स्वर नव पर दे।[1]"

निराला ने लगभग दो सौ ऐसी कविताएँ लिखी हैं, जो विशुद्ध गीत हैं। उनमें से कम–से–कम बीस गीत तो ऐसे अवश्य हैं जो छायावादी भाषा–शैली और भावबोध से भिन्न स्तर के हैं। ऐसे गीतों को हम सहज ही 'नवगीत' की संज्ञा दे सकते हैं। पहले कहा जा चुका है कि 'नवगीत' सापेक्ष्य शब्द है। अतः निराला के ये गीत अपने युग के अथवा पूर्व परम्परा से प्राप्त गीत–शिल्प से भिन्न होने के कारण ही नवगीत है। फिर भी वे आधुनिक नवगीतों की सभी विशेषताओं से युक्त नहीं है। ऐसा होना सम्भव नहीं था। निराला के उन गीतों में आज के युग द्वारा अपेक्षित नवीनता नहीं है।

1. निराला – 'गितीका' से

''छायावाद युग के एक प्रमुख कवि माखनलाल चतुर्वेदी ने भी गीत–विधा में नये प्रयोग किये हैं। यद्यपि वह प्रारम्भ से ही रहस्यवादी–छायावादी कवि थे, किन्तु साहित्य की बदलती हुई प्रवृत्तियों के अनुरूप उन्होंने अपने को ढालने का प्रयास किया था। यद्यपि प्रकृति के सौन्दर्य में डूबकर आनन्द के गीत उन्होंने अधिक गाये हैं किन्तु, गाहे–बगाहे उनके ऐसे गीतों में रहस्य–चेतना भी अभिव्यक्त होती है। माखनलालजी के ऐसे सभी गीत रहस्योन्मुख नहीं है। अनेक गीतों में उन्होंने छायावादी भावानुभूतियों की अभिव्यक्ति नहीं की है। ऐसे गीतों की भाषा छायावादी गीतों की भाषा से बिलकुल बदली हुई है। उनमें विरोध और रूपक अलंकारों का मोह छूट गया है और बोलचाल के शब्दों का निधड़क प्रयोग हुआ है। कहीं–कहीं उन्होंने नये उपमानों और अछूते बिम्बों का भी प्रयोग किया है। उनके काव्य–संग्रह 'बीजुरी काजर आंज रही' और 'वेणु लो गूंजे धरा' में कई गीत इस प्रकार के हैं, जिनमें नवगीत का बिम्ब–विधान दिखाई पड़ता है।''[1]

उत्तर आधुनिक काल की जनवादी पृष्ठभूमि स्वतंत्रता के तुरंत बाद अथवा साठोत्तर हिन्दी गीत में उभरने लगी थी। शंकर द्विवेदी और रमेश रंजक के जानवादी गीतों में नए तेवर भी थे और लोकाग्रही रूझान के साथ सांस्कृतिक परिदृश्यों का आकर्षण भी था। दिनेश सिंह ने अपनी 'नये–पुराने' पत्रिका की भूमिका में हिन्दी नवगीतों की जनवादी लोक सांस्कृति की सन्निहिति को तथा समूचे जनवादी सोच के प्रस्तार स्पष्ट करते हुए लिखा है – ''गीतों की लोक सम्पृक्ति का जहाँ प्रश्न है वहाँ 'नये–पुराने' का मानना है कि वह गीत का एक महत्वपूर्ण तत्व है पर उसे गीत में औजार बनाने के लिए जरूरी नहीं है कि लोकभाषा के शब्दों की भरपूर उपस्थिति के रूप में ही देखा जाए। या केवल लोक धुनों को ही रचना में स्थूलतः साहित्यिक

1. नवगीत अर्धशती, संपा. शंभुनाथ सिंह, पृ.5

माहौल दिया जाए। गीत की लय को सांस्कृतिक लय यानी भारतभूमि की मिट्टी में धड़क रहे तीन चौथाई से अधिक जीवन (लोक जीवन) की लय में पिरोया जाये। आगे आने वाले समय के लिए यह गीत संदर्भ का एक जरूरी संकेत है। दूर-संचार के संसाधनों की गहमा गहमी में चल रही पदार्थीकरण की तेज प्रक्रिया के कारण विचारधारा पर तकनीक के पूर्ण आधिपत्य की भविष्यवाणियों के प्रभाव को हिन्दी कविता का यह गीत-स्वरूप ही क्षीण कर सकेगा। क्योंकि इसे मिट्टी का वह ताप बरकरार है जो सामाजिक इकाइयों में वैचारिक संगठन के क्षरण के दौरान भी उन इकाइयों की इयत्ता और सत्ता सुरक्षित रख पाने के लिए मानवीय आस्था और विश्वास का संवल देकर उसे यथावत शक्तिमान बनाए रखने में सहायक होगा। आधुनिकतावादी सोच में भौतिक पदार्थों के संश्लेष से ही जीवन-चेतना के अभ्युदय की बात इस देश-भूमि के परिप्रेक्ष्य में एक भ्रामक अंदेशा भर ही है। पश्चिम में डूबते हुए सूरज की ओर देख-देखकर केवल भयातुर होते रहने की सिहरन भर है। या फिर संभावनाओं के अतिवादी छोर में खुद को जकड़ने की मिथ्या लालसा भर है। लोक सम्पृक्ति का सूत्र आज के गीत का वह सूत्र है जो आधुनिकता को भारतीय साँचे में रखकर तराशता है और भारतीय हिन्दी काव्येतिहास को मजबूती देता है। गीत संस्कृति में वर्ग चेतना नहीं लोक जीवन की गहरी साझेदारी होती है। उमाकांत मालवीय जिस वजह से नई पीढ़ी को परिष्कारों से दरिद्र घोषित करते हैं उसके पीछे लोक जीवन की इसी साझेदारी का अभाव उन्हें दिखा होगा। अपने भारतीय संस्कारों की समझ और उसे अपने अधुनातन जीवन में 'लय' की तरह पकड़ पाने की अयोग्यता-असमर्थता भी दिखी होगी। सो लोकजीवन की साझेदारी गीत-नवगीत में प्रमाणित कराने के लिए जरूरी नहीं है कि लोक में प्रचलित शब्द-समूहों की सारणियाँ बनाई जायें या उन सरणियों के रंगीन तागों से बूटों की तरह लोक-बिम्ब ही काढ़े जायें। बात अंततः उसी

लय की आती है कि लोक जीवन की वह विशिष्ट लय उसमें समाहित होनी चाहिए जो लोक–संवेदना या भारतीय जीवन की मौलिक संवेदना से फूटती है। शम्भुनाथ सिंह जब कहते हैं कि"नवगीत भारत की आत्मा को प्रतिबिम्बित करने वाली कविता है तो वे भी उस आत्मा के स्वरूप को इसी संवेदना से जोड़कर देखते हैं और तभी ओम प्रभाकर भी यह कहते हैं कि नवगीत भारतीय चिन्तन की काव्यधारा है। अर्थात् नवगीत में जहाँ भारतीयता की बात आती है वहीं लोक संवेदना से निवृत्त लय की बात आती है। यही मानवतावादी सोच हैं और यही गीत का सैद्धान्तिक चिन्तन भी होना चाहिए।''[1]

अपने कथ्य को विस्तार देते हुए दिनेश सिंह आगे कहते हैं – ''गीत को जब हम सांस्कृतिक मानते हैं तो उसका सीधा अर्थ है कि हम गीत को भारतीय मन से जोड़कर देख रहे हैं और गीत पर इस मन की समग्र सांस्कृतिक संकुलता की अभिव्यंजना का दायित्व भी स्वीकार करते हैं तो क्या हम फिर अपनी संस्कृति के नाम पर होली की आग और जलते हुए गाँव को एक साथ तापते हुए गीतों के साथ सिर्फ़ फाग ही गाते रहें, रंग ही उड़ाते रहें, सूता–परेता, पीपल की छाँव और पोखर के लिए तड़पने, चिरई–चमगुद्दर के लिए बिसूरने या उन्हें रागरंजित भर करने से क्या यह समय की आग बुझ जाएगी। इस आग को बुझाने में यदि इन प्राकृत उपादानों का उपयोग इन्हें संवेद्य बनाकर संवेदनशील औजारों के रूप में किया जाए और इस संवेदनाओं को द्रवीभूत कर पानी की शक्ल में ढाला जाए तो गीत की सार्थकता अपने आप माध्यम के बरअक्स हो सकेगी। अन्यथा सांस्कृतिक दायित्वबोध का हिमायती गीत मौजूदा समय–संदर्भ की आग से बहिर्मुखी या निरपेक्ष ही माना जाएगा। अपने समय की प्रासंगिकता से मुँह मोड़कर भाग जाने पर इतिहास की स्मृतियों में वह कैसे

1. नये पुराने – संपा. दिनेश सिंह, अंक–1999, पृ.9

शेष रह सकेगा।"[1]

हिन्दी काव्य संरचना के आयाम समय-समय पर परवर्तित या परवर्द्धित होते रहे हैं। जहाँ तक लोकार्षित जनवादी सोच का प्रश्न है, वह हिन्दी कविता में साठोत्तर साहित्य के वृत्त में अधिक उजागर हुई है। छायावाद, रहस्यवाद, प्रयोगवाद तथा प्रगतिवाद तक कविता में आम आदमी की सन्निहिति प्रत्यक्ष नहीं थी। आम आदमी का प्रतिनिधित्व एवं रचनाकार करता दृष्टिगत होता था। इसका परिणाम यह हुआ कि रचनाकार का वैयक्तिक सोच ही समष्टिगत होने का नाटक करता रहा है। सीधे सादे आम आदमी से कविता का सरोकार बहुत समय बाद हुआ। शलभ श्रीराम, रमेश रंजक, महेन्द्र नेह, धूमिल जैसे रचनाकारों ने इस व्यूह को तोड़ा और हिन्दी काव्य में जनवाद की प्रत्यक्ष प्रस्तुति को रेखांकित भी किया।

हिन्दी काव्य की गीत विधाओं में यह लोकाग्रही रुझान अपेक्षाकृत अधिक प्रभावशाली बनकर उभरा है। विशेष करके नवगीतों में अब प्रभाव कहीं अधिक प्रभावक है। नवगीत एक ऐसे विशिष्ट स्तर पर अवस्थित है जहाँ जीवन का शाश्वत और परिवर्तनशील रूप दोनों ही उनके अनुभव-व्यास और अभिव्यक्ति-प्रक्रिया में एक साथ सहज ही आ जाते हैं। नवगीत न तो केवल लोकगीतात्मक रचना है और न केवल नगर-बोध की कविता, बल्कि वह, वह कविता है जो आज का सम्पूर्ण जीवन है। उसके शिल्प और कथ्य का आस्वाद एक कठोर और खुरदरे हाथ के स्नेहमय स्पर्श का आस्वाद है। नवगीत आज के सम्पूर्ण जीवन के लघु-लक्ष्यों की कविता है। वह संगीत, लय, छन्द, तुक और ताल की समस्त पारम्परिक रूढ़ियों से मुक्त होता हुआ भी उनकी मूलधारा से जुड़ा है। वह एक ऐसा काव्य रूप है जो वास्तविक रचना के आंतरिक अनुशासन से अनुशासित है।

1. नये पुराने - संपा. दिनेश सिंह, अंक-1999, पृ.19

"नवगीत के कवि एक ही समय में प्रतिबद्ध और तटस्थ दोनों हैं। इनकी प्रतिबद्धता केवल अपने परिवेश और वास्तविक अनुभूति के प्रति है और ये तटस्थ हैं काव्य-रचना के प्रति किसी भी प्रकार के विशष्टाग्रह से। वे मतवाद विशेष के प्रति तटस्थ हैं। वे रचना के शिल्प विशेष के प्रति आग्रही नहीं हैं। निजी परिवेश और अनुभूति विशेष के अनुरूप जो भी रचना-रूप हो सकता है, ये कवि उसी का प्रयोग करते हैं। वे काव्य-भाषा के रूप विशेष के प्रति तटस्थ हैं। वे स्वयं को परम्परा से कटा हुआ नहीं मानते। परम्परा के श्रेष्ठत्व को स्वीकारते हुए उसके विद्यमान और परिवर्तित रूप को ये कवि ग्रहण करते हैं। लेकिन ये परम्परावादी नहीं है।"[1]

नवगीत की दृष्टि में जीवन की सम्पूर्णता है, उसका कोई एक पक्ष या अंग विशेष नहीं। वह वस्तु-सत्य-चाहे वह जिस भी रूप में ही-की कविता है, वैयक्तिक या आरोपित सत्य की नहीं। उसकी दृष्टि में जातीयता या जातीय परिवेश किसी भी आधुनिकता, अत्याधुनिकता या अन्तर्राष्ट्रीयता से अधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि नवगीत के कवि सीधे भोक्ता अतः प्रामाणिक प्रवक्ता हैं। "ये कवि मानते हैं कि कविता कभी 'गद्य' नहीं थी, न है, न हो सकेगी। लिहाजा ये उसमें संगीत या लय को अनिवार्य मानते हैं, लेकिन उतने ही अनुपात में जितना कविता के लिए जरूरी हो। ये कवि उस आधुनिकता को त्याज्य मानते हैं जो उन्हें विशिष्ट व्यक्तित्व अथवा स्वत्व से हीन अथवा अजातीय अथवा अभारतीय अथवा अहिन्दी कवि बनाती है। और ऐसा वे इसलिए करते हैं कि वे नहीं चाहते कि अनुभूति और अभिव्यक्ति में वे अप्रमाणिक हों।"[2]

गीतकार ओमप्रभाकर अपने एक नवगीत में इसी बात को रेखांकित करते हैं –

---

1. महेन्द्र नेह, भव्य भारती, अंक-7, पृ.16
2. ओम प्रभाकर, नवगीत दशक-2, पृ.57

" फिर फूले कचनार,

प्रिया, तुम बिन फूले कचनार !

द्वारे फूला है कदम्ब

पिछवारे फूला आम

आंगन फूला गुलाबांस

अन्तरमन तेरा नाम

डाल-डाल औ' पात-पात

गिन-गिन फूले कचनार !

प्रिया, तुम बिन.......... !

मुंह अंधियारे से संझा

औ' संझा से भिनसारे

दिन-दिन, रात-रात फूले

छिन-छिन फूले कचनार

प्रिया, तुम बिन

फूले कचनार !"[1]

समय के बदलाव ने और मूल्यों के परिवर्तन ने पूरी सामाजिकता को ही नए अर्थों से जोड़ दिया है। आज एक संश्लिष्ट सभ्यता जन्म ले रही है। गाँव-गाँव नहीं रहे। नगर भी महानगर बनते जा रहे हैं। गाँववाले बसने के लिए शहर आने लगे तो शहर भी गाँवों की ओर घुसपैठ करने लगे। किसान के बेटे की शहर में 'कोठी' बनेगी तो शहरी बाबू और सेठ की 'कॉटेज' भी गाँव में जरूर बनेगी। शब्दों और संस्कृतियों

1. ओम प्रभाकर, नवगीत दशक-2, पृ.65

का बंटवारा करनेवाले कितने दिन इस हेरा–फेरी का सौदा साहित्य में कर सकेंगे, इसकी मियाद उन्हें खुद समझ में आने लगी होगी।

अब गाँव और शहर की स्थिति और महत्व का विश्लेषण उनकी भौगोलिक सीमाएँ नहीं कर सकेंगी। यह कार्य उनके अस्तित्व और चरित्र से संभव होगा। ग्रामीण चरित्र के शहरीकरण से उत्पन्न सांस्कृतिक संकट ने एक तीसरे समाज या वर्ग की रचना की है। इस समाज को 'गतिशील' के स्थान पर 'चलता–फिरता' कहना चाहिए। यह समाज बस, ट्राम और रेलों से गाँव और शहर के बीच सफर करता जा रहा है। पाँच लाख असुरक्षित गाँवों को, पाँच सौ शहर कब तक सुरक्षा प्रदान करेंगे? वह भी तब, जब 'असुरक्षा' एक प्रवृत्ति, एक पीढ़ी बनकर दोनों के बीच चल–फिर रही है। लेकिन राष्ट्रीय चरित्र की मुख्यधारा में व्याप्त आडम्बर और झूठ के प्रभाव से ये गांव भी मुक्त नहीं हैं। चरित्र–क्षय के जितने पहलू इस वक्त हमारे सामने हैं, उनमें सबसे अधिक पीड़ादायक ग्रामीण चरित्र के क्षय का पहलू है।

नवगीत के माध्यम से ग्रामीण जीवन को, उसकी पुरानी पवित्रता, निश्छलता, सीधाई–सादगी की याद दिलाई जा सकती है। बशर्ते यह अनुभव भी न हो कि नये से उन्हें विमुख रहना है। नया ग्राह्य है, पुराना स्मरणीय। इस ग्राह्यता और स्मरण के बीच से वह ग्रामीण चरित्र निर्मित हो सकता है, जिसकी हमें अपेक्षा है। जनतांत्रिक व्यवस्था में जन की जागरूकता एक अनिवार्य जरूरत है। सहजता और संवेदनीयता के कारण नवगीत इस जरूरत को उचित समाधान दे सकता है।

आज का समाज पूरी तरह राजनीति की गिरफ्त में है। कुछ अंशों तक वह हमेशा से रहा है। लेकिन इधर उसकी गर्दन पर यह शिकंजा जितना मजबूत हुआ है, पहले कभी नहीं था। कारण यह है कि राजनीति जब नीतिपरक होती है, तो जन–

जीवन और समाज की सहायक और समान्तर गति वाली होती है, लेकिन जब अनीतिपरक हो जाती है तो समाज के आगे चलती है और उसे चौतरफा घेर लेती है।

पुराबोध और आधुनिक बोध का अंतराल स्पष्ट करती हुई ये गीत पंक्तियाँ द्रष्टव्य है –

"घर आँगन चौपाल चौतरा
झाड़–बुहार गयी।
बड़े सकारे किरन ओसारे
पाटी पार गयी।
दिन–भर थकी
सांझ को लौटी
बूढ़ा बाप
धरे सगुनौटी
धूप सरीखी धिया हमारी
चौखट तार गयी।
सपने ओढ़े
आस बिछाये
गुमसुम लेट गयी
बिन खाये
भरी उमर में देह अजाने
दुख के द्वारे गयी।"[1]

1. गुलाब सिंह, नवगीत दशक–2, पृ.40

जनवाद को कुछ लोग एक राजनीतिक सोच का विज्ञापित संज्ञान मानते हैं किंतु रचना–धर्मिता की दृष्टि से जनवादी सोच को लोक के सामान्य अर्थों में ही स्वीकार करना समीचीन है। कुछ विशिष्ट हिन्दी रचनाकारों ने इस जनवाद को लोकवाद से अलग नहीं स्वीकारा और उनकी रचनाओं में यह तथ्य देखा जा सकता है। बुद्धिनाथ मिश्र की ये गीत–पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं –

"सुन्नर बांभिन बंजर जोते

इन्नर राजा हो;

आंगन–आंगन छौना लौटे

इन्नर राजा हो !

कितनी बार भगत गुहराये

देवी का चौरा?

भरी जवानी जरई सूखे

इन्नर राजा हो।[1]"

हिन्दी कविता का उत्तर आधुनिक काल विशेष रूप से जनवादी संचेतना से ही जुड़ा रहा है। अपने को व्यक्त करने के लिए लोक–संदर्भों से जुड़ने वाले कवि श्यामसुन्दर दुबे पत्र–पत्रिकाओं के माध्यम से पाठकों से पूर्व–परिचित रहे हैं। आंचलिक भाषा का प्रयोग दुबे जी के गीतों में विशेष रूप से हुआ है। लोक–जीवन की त्रासद स्थितियों का चित्रण करते हुए वे लिखते हैं :

"मन के भरम हथौड़ा पीटे

चिनगी–चिनगी देह

राख चढ़ी अंगारों ऊपर

1. हिन्दी नवगीत, उद्‌भव और विकास, संपा. – राजेन्द्र गौतम, पृ.59

भरे कठौती मेह !

माता गंगा सरसुति बहिना

यमुना भई घरैनी

कुटुम कबीला पातक धोयें

तीरथ पिता प्रयाग ![1]

नयी कविता के गीतकारों में नवगीत की एक ही प्रवृत्ति प्रमुख रूप से उभरी है। वह है लोक–धर्मिता एवं आंचलिकता की। भवानीप्रसाद मिश्र ने उसे 'पीके फूटे आज प्यार के, पानी बरसा री' अज्ञेय ने 'कांगड़े की छोरियां', नरेश मेहता ने 'पीले फूल कनेर के', ठाकुरप्रसाद सिंह ने 'आछी के वन' जैसे गीतों में अभिव्यक्ति दी है। आंशिक रूप में हमें इसके अपवाद गिरिजाकुमार माथुर और डॉ. धर्मवीर 'भारती' में प्राप्त होते हैं। माथुर जी के गीत शिल्प की दृष्टि से अपने समकालीन नये कवियों में सबसे आगे थे। उन्होंने मध्यवर्गीय चेतना को अपने गीतों में जो अभिव्यक्ति दी है, एक रूप में उस दिशा में उनका यह कदम पहला है क्योंकि भारती में यह तत्व बहुत बाद में दिखलायी देता है। माथुर जी के गीतिशिल्प का एक उदाहरण प्रस्तुत है :

"वंशी में अब नींद भरी है

स्वर पर पीत सांझ उतरी है

बुझती जाती गूंज आखिरी

इस उदास वन पथ के ऊपर

पतझर की छाया गहरी है

अब सपनों में शेष रह गयी, सुधियां उस चंदन के वन की[2]

1. हिन्दी नवगीत, उद्‌भव और विकास, संपा. – राजेन्द्र गौतम, पृ.47

2. गिरजा कुमार माथुर, वही, पृ.60

आधुनिक यंत्र जगत् की समस्याओं और नयी सभ्यता के बीच उभरने वाले प्रश्नों से उस काल में इनके अतिरिक्त जगदीश गुप्त ने भी गीत को जोड़ने का प्रयास किया है और कुछ गीतों में नये सौन्दर्य को व्यक्त किया है। निम्न पंक्तियाँ इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं :

"यह रुपहली छांह वाली बेल

कसमसाते पाश बांधे हुए आकाश

तिमिर–तरु की स्याह शाखों पर खिले

नखत–कुसुमों से रही है खेल[1]"

केदारनाथ सिंह के उस काल में रचित कई गीत भी सशक्त हैं। 'झरने लगे नीम के पत्ते, बढ़ने लगी उदासी मन की' उनका प्रसिद्ध गीत रहा है। उनके कई गीतों में लोक–चेतना का तत्व प्रभावपूर्ण ढंग से व्यक्त हुआ है। यथा –

"धान उगेंगे कि प्रान उगेंगे

उगेंगे हमारे खेत में

आना जी बादल जरूर

चंदा को बांधेगी कलगियां

सूरज को सूखी रेत में

आना जी बादल जरूर।[2]"

उसी काल में रामदरश मिश्र भी लोकोन्मुखी गीतों की रचना करने लगे थे :

"संध्या को लौटे मेले से

जैसे राही सारे

1. डॉ. जगदीश गुप्त – 'युग्म', पृ.31
2. केदारनाथ सिंह, वही, पृ.112

बादल जा रहे

छप–छप गांवों की पगडंडी

मुंह धो उठी खेत की गलियां

ताजे कंठों की कजली धुन

झम–झम झींसी गोर बिजलियां

फिर कब आओगे परदेशी

पूछ रही मन मार

बादल जा रहे।[1]"

'भारती' ने 'सात गीत वर्ष' में यद्यपि कई अत्यंत रोमानी एवं वैयक्तिक भावनाओं के गीत लिखे हैं, पर उनके कुछ गीतों में यथार्थ की वस्तुपरक अभिव्यक्ति भी है। यथा :

"आंचल से छू तुलसी की थाली

दीदी ने घर की ढिबरी बाली

जमुहाई ले–लेकर उजियाली

जा बैठी ताखों में

घर–भर के बच्चों की आंखों में

धीरे–धीरे उतरी शाम।[2]"

आधुनिक हिन्दी कविता में जनवादी चेतना की सन्निहिति समय सापेक्ष हैं। वैश्विक स्तर पर जब उपभोक्तावादी सोच ने व्यक्ति को भौतिक परिवेश में विलास और

1. रामदरस मिश्र – धार पर हम, संपा. – वीरेन्द्र आस्तिक, पृ.56

2. धर्मवीर भारती, अक्षर पर्व, संपा.–सर्वमित्रा सूरजन, अंक–24, पृ.12

ऐश्वर्य की ओर उत्प्रेरित किया है, वहाँ सर्वहितार्थ की बात हासिये पर आ जाती है। सामान्य अनुभूतियों का संस्पर्श भी आभासित नहीं होता।

आधुनिक गीतों में सौन्दर्यानुभूति के साथ–साथ यर्थावादी चिंतन का आग्रह भी देखा गया है। अंतरंग अनुभूति और जनमानस की धड़कन नवगीतकार की एक पारस्परिक विवशता एवं रुचि बन गया था, परिणामतः उसकी इस अभिव्यक्ति में दोनों धरातल अपनी इस सहजता से मुखर हुए हैं कि एक–दूसरे को अलग कर पाना कठिन हो जाता है। इसी सहजता का सुफल है कि इन गीतकारों का राग और कल्पना इनके गीतों में अपनी परम्परा से भिन्न एवं यथार्थवादी हो गयी है।

"'भोग' और 'कल्पना' दो भिन्न दृष्टि–बिन्दु हैं। छायावादी कवि 'काल्पनिक–लोक' में विचरते हुए अपनी अनुभूतियों को अभिव्यक्ति देते हैं किन्तु नवगीतकार 'काल्पनिक लोक' से बहुत दूर 'यथार्थ लोक' में भ्रमण करता हुआ 'भोगे हुए आत्मपरक सत्यों का उद्घाटन करता है। उसकी अनुभूतियां 'सहजता और सरलता' के कणों से अनुस्यूत हैं। छायावादी कवियों की भाँति 'जीवन से पलायन' की अपेक्षा उसने जीवन–संघर्ष को स्वीकार किया है। उसे लगा कि अनुभूतियां चाहें 'गरल' अथवा 'असत्य' हों – वह केवल उसी की हैं – इसी में सुख और आनन्द है। सहजता को जीवन का अनिवार्य तत्व स्वीकार करनेवाला गीतकार नयी कविता के विदेशी प्रभाव से उधार लिए गये चिन्तन और भावों पर करारा व्यंग्य करता है। नवगीतकार जीवन के भोगे हुए यथार्थों से प्रेरित होकर रचना करता है, इसीलिए उसकी अनुभूति सहज और अभिव्यक्ति सरल है।"[1]

इस देश की धरती पर गीत–राग का जनाग्रही रुझान प्रागैतिहासिक काल से अशुद्ध रुप से अग्रसरित होता रहा है। गीतों का ही प्रभाव इस देश के जनमानस को

1. डॉ. सुरेश गौतम – नवगीत इतिहास और उपलब्धि, पृ.47

SMT. HANSA MEHTA LIBRARY

व्यक्त भी करता है। मुश्किल यह है कि आज व्यक्ति सारा विश्व याद रखता है भारत को भूल जाता है। गीत / लोकगीत / नवगीत की प्रत्येक पंक्ति भारतीय सभ्यता की सुगंध गाथा है। आत्मा की इस वाणी में खेत, खलिहान, चौराहे, पेड़, पशु से लेकर ननद, भौजाई, देवर, सास–ससुर, पास–पड़ौस सभी सिमटे हैं। गीत की यह विशेषता है कि उसमें कुछ भी अनछुआ और अनभोगा नहीं रहता। अध्ययन और अनुभव के अभाव ने गीत को दयनीय बना दिया है। कितने आश्चर्य की बात है कि आज गीत के लिए समालोचक नहीं है। नई कविता के निरे समालोचक मिलेंगे। आज का समालोचक स्वयं को प्रगतिशील और आधुनिक कहलाने के लोभ में गीत को आलोचना का विषय नहीं मानता।

"नये प्रश्नों, नये जीवन मूल्यों से जूझते हुए गीत / नवगीत ने आज जो नया मार्ग ढूंढ़ा है उसमें प्रगतिवादी आंच की ठंडी छुअन भी है। आर्थिक गणित में उलझी विषम भारतीय मानसिकता, विभाजन की भयावहता, साम्प्रदायिक वैमनस्य की विषगांठों में उलझे धर्म–अभिमन्यु की मुक्ति–पीड़ा, वैज्ञानिक आविष्कारों की भूल भुलैयां, निरी बौद्धिकता की ओर बढ़ता जा रहा अन्धानुकृत राष्ट्र, सांस्कृतिक अवमूल्यन की छाया में बनते–बिगड़ते, ऐंठते रिश्तों की सामाजिक दरकन, राजनीतिक अभिशाप, टूटने की पीड़ा आदि विष को पीते हुए गीत सदा की तरह आज भी जीवन के संघर्ष को सर्वोपरि मानकर चल रहा है। वह नई कवितावादियों की तरह रिरियाता नहीं है बल्कि भावना से ह्रदय को जोड़ता है, मात्र बौद्धिक ही नहीं बना रहता, बौद्धिकता को छान कर विवेकशील दृष्टि का प्रतिपादन करता है, जिसमें बुद्धि का अर्क भी है और ह्रदय का द्रव रस भी। सामाजिक यंत्रणाएं उसकी चेतना को विवश नहीं करती बल्कि उसे धारदार बनाती हैं। वह प्रयोगवादियों की तरह अपने 'मैं' को ही नहीं तलाशता रहता बल्कि नकारात्मक मूल्यों के प्रति अपना पुरजोर विरोध दर्ज करवाता

है और सामाजिक संकीर्णताओं से ऊपर उठकर समाज को विघटित करनेवाली स्थितियों के सामने आदमकद की भाँति खड़ा होता है। वह अफसोस और पश्चाताप करते हुए रोता नहीं अपितु, व्यक्ति के वैश्ष्ट्यि को स्थापित करने का संघर्ष करता है।"[1]

अंत में कहा जा सकता है कि आधुनिक हिन्दी कविता की सम्पूर्ण अस्मिता आम आदमी की जीवन्त व्यथाओं से सम्पृक्त है। कविता अब गगनचारी कल्पनाओं के सतरंगी व्यामोह को तोड़कर धरती पर खड़ी होकर आम आदमी के सुख दुखों से बतिया रही है, कानाबाती कर रही है, गुफ्तगू कर रही है। उससे सलाह–मशवरा करती हुई उसके हाथ में हथियार बनकर एक नये युद्ध का ऐलान भी कर रही है।

1. धार पर हम, संपा. – वीरेन्द्र आस्तिक, पृ.29